ईशावास्योपनिषद्

(भाषाटीका सहित)

अनुवादक

रायबहादुर बाबू ज़ालिमसिंह

प्रकाशक

नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो)

केसरीदास सेठ सुपरिंटेंडेंट द्वारा

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित.

सन् १६२८ ई०

[...सरी बार]
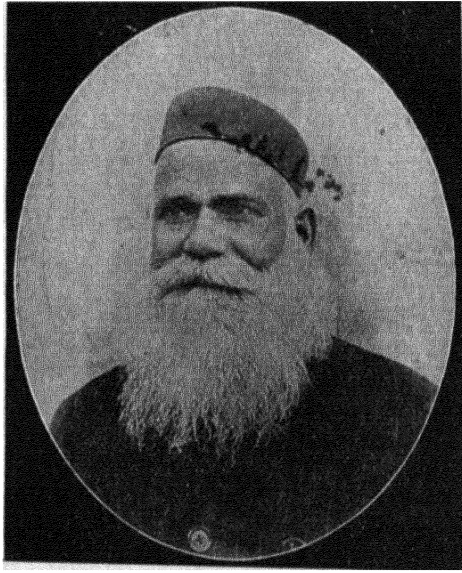
रायबहादुर बाबू ज़ालिमसिंह ।

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

श्रीगणेशाय नमः ।

वक्तव्य ।

मङ्गलाचरणम् ।

वन्दे शैलसुतापतिं भयहरं मोक्षप्रदं प्राणिनां
मोहध्वान्तसमूहभञ्जनविधौ प्रभास्करं चान्वहम् ।
यद्बोधोदयमात्रतः प्रविलयं विघ्नस्य शैलव्रजा
यान्त्येवाखिलसिद्धयः प्रतिदिनं चाशन्तर्हीनं परम् ॥१॥
यं ध्यायन्ति मुनीश्वराः प्रतिदिनं संयम्य सर्वेन्द्रिया-
ण्यर्वाक्तीर्थजलाभिषिक्तशिरसो नित्यक्रियानिवृताः ।
षट्चक्रादिविचारसारकुशला नन्दन्ति योगीश्वराः
तं वन्दे परमात्मरूपमनघं विश्वेश्वरं ज्ञानदम् ॥ २ ॥

दो० करों वन्दना ब्रह्म को, जो अनन्त निजरूप ।
जेहि जाने जगभ्रम सकल, मिटै अन्ध तमकूप ॥
नाम रूप जामें नहीं, नहीं जाति अरु भेद ।
सो मैं पूरण ब्रह्म हूं, रहित त्रिविध परिछेद ॥
ब्रह्मभाग जो उपनिषद्, ताको करूँ विचार ।
भाषा में निज अर्थ को, लखै सकल संसार ॥
सन्त संग से जो लख्यो, सो मैं करूँ बखान ।
परमानन्द सहाय ते, जाने सकल जहान ॥
पुरी अयोध्या के निकट, अकबरपुर है गाँव ।
जन्मभूमि मम जान तू, ज़ालिमसिंहहि नाँव ॥

यह असार संसार महाअपार समुद्र है, इसके पार होने के लिए उपनिषद् अद्भुत अलौकिक अद्वितीय नौका है, जिसमें

बैठकर असंख्य सज्जन मुमुक्षुजन बिना प्रयास ही ऐसे दुस्तर सागर के पार होगये हैं और होते जाते हैं और भविष्यत्काल में होंगे। जो मुमुक्षुजन हैं उनके हितार्थ यह भाषा-टीका रची गई है। इस टीका में पहिले मूलमन्त्र है, फिर पदच्छेद है, फिर वाम हस्त की ओर संस्कृत अन्वय और दक्षिण हस्त की ओर पदार्थ-सहित भावार्थ लिखा गया है। यदि वाम तरफ़ का लिखा हुआ ऊपर से नीचे तक पढ़ा जावे, तो उत्तम संस्कृत मिलेगा और यदि दक्षिण हस्त के तरफ़वाला पढ़ा जावे, तो मन्त्र का पूरा अर्थ मध्यदेशीय भाषा में मिलेगा। यदि बाईं तरफ़ से दाहिने तरफ़ को पढ़ा जावे, तो हर एक संस्कृत पद का अर्थ भाषा में मिलेगा। जहाँ तक हो सका है, प्रत्येक संस्कृत पद का अर्थ विभक्ति के अनुसार लिखा गया है। इस टीका के पढ़ने से संस्कृत विद्या का भी अभ्यास होगा। इस टीका में मूल का कोई शब्द छूटने नहीं पाया है और मन्त्र का पूरा-पूरा अर्थ उसी के शब्दों ही से सिद्ध किया गया है। अपनी कल्पना कुछ नहीं की गई है। हाँ, कहीं-कहीं ऊपर से संस्कृत पद मन्त्र के अर्थ स्पष्ट करने के लिए रक्खे गए हैं और उस पद के प्रथम यह + चिह्न लगा दिया गया है, ताकि पाठकजनों को विदित हो जावे कि यह पद मूल का नहीं है।

इस टीका के निर्माण करने में मुरादाबाद-निवासी पण्डित गंगादत्त ज्योतिर्विद् और अल्मोड़ा-निवासी पण्डित रामदत्त ज्योतिर्विद् की सहायता प्राप्त हुई है। तदर्थ उन महानुभावों का मैं अत्यंत आभारी हूँ। शुद्ध निर्मल हृदयाकाशवान् पुरुषों के चरण-कमलों में इस ग्रंथ को अर्पण करके आशा रखता हूँ कि जहाँ कहीं अशुद्धता होगी, वे लोग टीका-कर्त्ता को सूचना देकर अनुगृहीत करेंगे, ताकि अशुद्धता दूर हो जावे।

निवेदक—

जालिमसिंह

हेड पोस्टमास्टर नैनीताल व लखनऊ
तथा पोस्टमास्टर जनरल गवालियर
ग्राम—अकबरपुर, ज़िला फ़ैजाबाद.

ईशावास्योपनिषद् ।

[भाषा-टीका-सहित]

हरिः ॐ यजुर्वेदीयवाजसनेयसंहितायाम्
ईशावास्योपनिषत् तत्र आरम्भशान्तिः ।

मूलम् ।

ॐ भद्रङ्कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रम्पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

भद्रम्, कर्णेभिः, शृणुयाम, देवाः, भद्रम्, पश्येम, अक्षभिः, यजत्राः, स्थिरैः, अङ्गैः, तुष्टुवांसः, तनूभिः, व्यशेमहि, देवहितम्, यत्, आयुः ।

अन्वयः ।	पदार्थ ।
यजत्राः	हे यजन करनेवालों की रक्षा करनेवाले
देवाः	देवताओ !
+ भवत्प्रसादात्	तुम्हारी कृपा से
कर्णेभिः	कानों द्वारा
भद्रम्	कल्याण को
शृणुयाम	हम सुनें
+ च	और
अक्षभिः	नेत्रों द्वारा
भद्रम्	कल्याण को
पश्येम	हम देखें
+ च	और
स्थिरैः	स्थिर अर्थात् दृढ़
अङ्गैः	अंगों करके
+ च	और
+ स्थिराभिः	स्थिर अर्थात् दृढ़
तनूभिः	शरीरों करके
+ युष्माकम्	आपकी
तुष्टुवांसः	सदा स्तुति करते हुए
+ वयम्	हम

आयुः=आयु को	+ ॐशान्तिः शान्तिः= शान्तिः { हमारे तापत्रय की शान्ति होवे अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविकरूप जो दुःखत्रय हैं उनका नाश होवे।
यत्=जो कि	
देवहितम्= { देवताओं का हित है अर्थात यज्ञ, दान आदि से देवताओं का हित करनेवाला है	
व्यशेमहि=प्राप्त होवें	

ॐ हरिः ॐ

मूलम्।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

पदच्छेदः।

ईशा, वास्यम्, इदम्, सर्वम्, यत्, किञ्च, जगत्याम्, जगत्, तेन, त्यक्तेन, भुञ्जीथाः, मागृधः, कस्यस्वित्, धनम्।

अन्वयः। पदार्थ।	अन्वयः। पदार्थ।
यत्किञ्च=जो कुछ	तेन=उससे अर्थात् जगत् से
जगत्याम्=जगत् विषे	त्यक्तेन=पृथक् हो करके
जगत्=नामरूपात्मक जगत् है	+ स्वात्मानम्=अपने आत्मा को
+ तत्=सो	भुञ्जीथाः=रक्षा करे
इदम्=यह	+ च=और
सर्वम्=सब	कस्यस्वित्=किसी के भी
ईशा=ईश्वर करके	धनम्= { विषय-भोगरूप धन की
वास्यम्=आच्छादित है	मागृधः=आकांक्षा न करे।

ॐम्

भावार्थ।

ईशावास्यमिदंसर्वमिति। "उपनिषद्" में तीन पद हैं, उप-नि-षद्, "उप" पद का अर्थ समीपता है, या एकता है और "नि" पद

का अर्थ निश्चय है और "षद्" पद का अर्थ नाश या मुक्ति है। तीनों पदों के मिलने से ऐसा अर्थ होता है कि जो जीव और ब्रह्म के अभेद को विषय करनेवाली ब्रह्मविद्या है, वह विद्वानों के जन्म-मरणरूपी अनर्थ को नाश करके ब्रह्म को प्राप्त करती है, अथवा बुद्धि के समीप स्थित ब्रह्म की प्राप्ति करनेवाली जो निश्चय करके विद्या है, उसी विद्या का नाम ही ब्रह्मविद्या है। वह ब्रह्मविद्या जिस ग्रन्थ में होवे, उस ग्रन्थ का नाम उपनिषद् है। ब्रह्मविद्या का साधक होने के कारण लक्षण करके ग्रन्थ का नाम भी उपनिषद् है और अज्ञात जो ब्रह्म है सो प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके इस ग्रन्थ का विषय है, ब्रह्मविद्या द्वारा मुक्ति इसका फल है और प्रतिपाद्य, प्रतिपादक भाव इसका सम्बन्ध है, अर्थात् जीवब्रह्म की एकता प्रतिपाद्य है और ग्रन्थ उसका प्रतिपादक है। विवेक, वैराग्य, समाधि, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता ये चार ज्ञान के साधन हैं। इन्हीं चारों साधनों करके संपन्न जो पुरुष है, वही इस ग्रन्थ का अधिकारी है। और विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी इन चारों का नाम ही अनुबन्ध-चतुष्टय है। अनुबन्ध-चतुष्टय होने के कारण विद्वानों को यह ग्रन्थ स्वीकार ही करने-योग्य है और ईश्वरप्रणीत होने के कारण सर्वप्रमाणों से मुख्य प्रमाणता भी इसी की ऋषियों ने मानी है, इसलिये मुमुक्षु पुरुषों को उचित है कि इसी उपनिषद् के श्रवण मनन का अभ्यास करें। अब ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हैं।

कोई एक स्थूल बुद्धिवाला जो कर्मी पुरुष है, वह ऐसा मानता है कि "ईशावास्यं" इत्यादि जो मन्त्र हैं, सो "इषेत्वादि" मन्त्रों की तरह मन्त्रत्वहेतु होने से कर्म का ही प्रतिपादक हैं। जैसे "इषेत्वादि"[1] मन्त्रों में मन्त्रत्व हेतु है, और कर्म का प्रतिपादकत्वरूप साध्य भी है, वैसे ही "ईशावास्यादि" मन्त्रों में भी मन्त्रत्व हेतु है, इनको

१—"इषेत्वा" इस मंत्र करके यज्ञ में पलाश की शाखा का छेदन किया जाता है।

भी कर्म का प्रतिपादक मानो। इस अनुमान करके कर्मी लोग, "ईशा-वास्यादि" मन्त्रों को भी कर्म का प्रतिपादक मानते हैं, सो उनका मानना ठीक नहीं है। क्योंकि ईशावास्यादि जो मन्त्र हैं, वे आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशते हैं और इसी उपनिषद् के अगले मन्त्रों ने आत्मा के स्वरूप को शुद्ध, नित्यमुक्त, सर्वगत, पाप से रहित कहा है। यदि इन मंत्रों को कर्म का प्रतिपादक मानोगे, तो इनके अर्थ के साथ विरोध होगा, आत्मा शेष और मन्त्र शेषी हो जायँगे। जो जिसके लिये होता है वह शेष कहा जाता है, और दूसरा शेषी कहा जाता है। जैसे "पुरोडाश" एक त्रिकोन रोट यज्ञ में यज्ञकर्म के लिये पकाया जाता है। रोट, कर्म का शेष कहा जाता है, क्योंकि वह उत्पाद्य होता है अर्थात् उत्पन्न किया जाता है, सो आत्मा ऐसा नहीं है, इसलिये कर्म का शेष नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ईशावास्यादि मन्त्र कर्म के बोधक नहीं हैं, परन्तु आत्मा के यथार्थ रूप को प्रतिपादन करते हैं। जो पुरुष आत्मा को अनेक मानता है और कर्त्ता, भोक्ता, स्वर्गी और नरकी मानता है, उसी को कर्मों में अधिकार है। जो पुरुष पूर्वोक्त रीति से, विलक्षण अकर्त्ता, अभोक्ता, एक, व्यापक, असङ्ग मानता है, उसको कर्मों में अधिकार नहीं है, उसी को उपनिषद् के अवलोकन में अधिकार है। अब ईशावास्य-मन्त्र के भावार्थ को लिखते हैं।

गुरु या ज्ञानी मुमुक्षु या शिष्य के प्रति कहता है, हे प्रियदर्शन! यह तत्पद का लक्ष्यस्वरूप ईश्वर करके नाना प्रकार की प्रतीतियों का विषय-भूत सम्पूर्ण जगत् आच्छादित है अर्थात् व्याप्त है और जो कुछ ईश्वर ने तुझको दिया है, उसको स्वीकार करके किसी के धन की इच्छा मत कर। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुरिति।' न कर्मों करके, न प्रजा करके, न धन करके कोई मोक्ष को प्राप्त होता है। किन्तु

इन सबके त्याग से ही मोक्ष मिलता है । श्रुति भी कहती है कि पुत्र, वित्त, लोक, लोकान्तर की इच्छा को त्याग करके मुमुक्षु ज्ञान होने पर संन्यस्त आश्रम को ग्रहण करे । यह मंत्र केवल ज्ञानी संन्यासी के लिये है, क्योंकि वह अपने आत्मा को सबमें और सबको अपने आत्मा में देखता है । उसके अन्तःकरण में जगत्भाव आत्मा से विमुक्त नहीं रहता है ॥ १ ॥

नोट—इस प्रथम मंत्रका उपदेश उत्तम अधिकारी मुमुक्षु के लिये है ।

मूलम् ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

कुर्वन्, एव, इह, कर्माणि, जिजीविषेत्, शतम्, समाः, एवम्, त्वयि, न, अन्यथा, इतः, अस्ति, न, कर्म, लिप्यते, नरे ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
इह	इस संसार में	न	नहीं
कर्माणि	निष्काम कर्मों को	अस्ति	है
एव	अवश्य ही	एवम्	इस प्रकार करते हुए
कुर्वन्	करते हुए	त्वयि	तुझ
शतम्	सौ	नरे	मनुष्य में
समाः	वर्ष	कर्म	कर्म
जिजीविषेत्	जीने की इच्छा करे	न	नहीं
इतः	इसके सिवाय	लिप्यते	लिपायमान होगा ।
अन्यथा	और कोई उपाय		

भावार्थ ।

कुर्वन्नेवेहेति । जो पुरुष धन का अभिलाषी है और ईश्वर के जानने में भी असमर्थ है, उसका त्याग में अधिकार नहीं । उसके प्रति श्रुति कर्म ही करने का उपदेश करती है । "इहेति" इस मृत-

लोक में अधिकारी पुरुष नित्य कर्म जो अग्निहोत्र और सन्ध्यादिक हैं, उनको करता हुआ और फल की अभिलाषा से रहित होता हुआ सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। हे शिष्य! इस प्रकार जब तू कर्म करेगा, तब तू कर्म के बन्धन में नहीं पड़ेगा, अर्थात् किये हुए कर्म तुझको जन्म-मरणरूपी संसार में नहीं बाँधेंगे, किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि के हेतु होवेंगे और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ज्ञान की प्राप्ति होगी तथा ज्ञानद्वारा मुक्ति को तू प्राप्त होगा। इसलिये स्ववर्णाश्रम के कर्मों का अनुष्ठान करना उचित है। गृहस्थ पुरुष को उनका त्याग उचित नहीं है॥ २॥

नोट—लिप्यते यह वर्तमान काल है, परन्तु अर्थ भविष्यत् काल का ही देता है और इस मन्त्र का उपदेश मध्यमाधिकारी मुमुक्षु के प्रति है।

मूलम्।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

पदच्छेदः।

असुर्य्याः, नाम, ते, लोकाः, अन्धेन, तमसा, आवृताः, तान्, ते, प्रेत्य, अभिगच्छन्ति, ये, के, च, आत्महनः, जनाः॥

अन्वयः।	पदार्थ।	अन्वयः।	पदार्थ।
+ ये	जो	च	और
लोकाः	लोक	ये	जो
अन्धेन	अदर्शनात्मक (अति)	के	कोई
तमसा	अज्ञान से	आत्महनः	आत्महत्यारे यानी अपने आत्मा को नहीं उद्धार करनेवाले
आवृताः	आवृत हैं	जनाः	जन हैं
ते	वे		
असुर्य्याः	असुरों के समान		
नाम	प्रसिद्ध हैं		

ते=वे	प्रेत्य=मर करके
तान्=उन लोकों को	अभिगच्छन्ति=प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ ।

असुर्य्या नाम ते लोका इति । यह तीसरा मन्त्र अज्ञानी कर्मियों की [illegible] करता है । "असुर्या इति" । सुष्ठु रमन्ते इति सुराः । भली प्रकार से जो आत्मा में रमण करें या क्रीड़ा करें उनका नाम सुर है, वही आत्माराम कहे जाते हैं, उनसे जो भिन्न विषयों में रमण करने-वाले हैं, वे असुर कहे जाते हैं । उनके कर्मों से उत्पन्न हुए जो लोक हैं, और जिनमें वे जाकर भोगते हैं, वे असुरलोक कहे जाते हैं । लोक का अर्थ यहाँ योनि है अर्थात् कामुक कर्मों के करनेवाले कूकर, सूकरादि योनियों में जाते हैं और वेदविहित कर्मों के करने-वाले देवतादि योनियों में जाकर शरीर को धारण करते हैं, और उन योनियों में कर्मों के फल को भोगते हैं । ये सब असुर कहे जाते हैं; क्योंकि आत्मा का अज्ञानरूपी जो तम है, उस करके उनके चित्त आ-च्छादित होते हैं । वे आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण संसारचक्र में भ्रमते ही रहते हैं, अर्थात् एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में, दूसरे से फिर तीसरे में जाते हैं । इस प्रकार घटीयन्त्र की तरह उनका चक्र चलता ही रहता है, वास्तव में वे आत्महत्यारे हैं, वे आत्मा का हनन करते हैं ॥ ३ ॥ अपने अज्ञान करके अजर, अमर आत्मा को जरा, मरणादि धर्मोंवाला मानते हैं, इसी से बार बार जन्म मरण को प्राप्त होते हैं । यही आत्मा का हनन है ।

प्रश्न—देवयोनियों से इतर योनि को असुर कहना चाहिये, क्योंकि वह निषिद्ध कर्मों के करने से मिलती है, देवयोनि तो बड़े भारी पुण्यकर्मों से मिलती है, उसको असुरयोनि कहना उचित नहीं है ।

उत्तर—शुभ कर्मों के करने से देवयोनि की प्राप्ति होती है इसमें

कोई संदेह नहीं, परन्तु वह देवयोनि केवल विषयभोगों के लिये ही होती है, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये नहीं होती है, इसी वास्ते देवता भी सब महान् भोगी होते हैं, आत्मज्ञान से शून्य होते हैं, अनेक कुकर्मों को करते हैं और अपने शरीर से गिरकर फिर छोटी योनियों में जाते हैं । इसी से देवयोनि को भी असुरयोनि कहा है ॥ ३ ॥

नोट—इस मंत्र का उपदेश सकामकर्मियों की निन्दा के प्रति है ।

मूलम् ।

अनेजदेकम्मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

अनेजत्, एकम्, मनसः, जवीयः, न, एनत्, देवाः, आप्नुवन्, पूर्वम्, अर्शत्, तत्, धावतः, अन्यान्, अत्येति, तिष्ठत्, तस्मिन्, अपः, मातरिश्वा, दधाति ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।
एतत्	यह आत्मा
अनेजत्	अचल है
तिष्ठत्	विकाररहित है
एकम्	अद्वैत है
मनसः	मन से
जवीयः	आगे जानेवाला है
पूर्वम्	पहले से ही
अर्शत्	गया हुआ है
+ यत्	जिसको
देवाः	चक्षुरादि इन्द्रियाभिमानी देवता भी
न	नहीं
आप्नुवन्	प्राप्त होते हैं
तत्	वही आत्मा
धावतः	शीघ्र चलते हुए
अन्यान्	औरों को अर्थात् मन आदिकों को
अत्येति	उल्लङ्घन करता है अर्थात् पीछे छोड़ देता है
+ च	और
तस्मिन्	उसी चेतन आत्मा में
मातरिश्वा	सूत्रात्मा प्राणवायु

अपः= { अग्नि, आदित्य आदि और सब प्राणियों के ज्वलन, दहन आदि सब कर्मों को } दधाति= { धारण करता है अर्थात् सबको अपने अपने कर्मों में प्रेरणा करता है ।

भावार्थ ।

अनेजदेकमिति । प्रश्न—जिस आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से अज्ञानी लोग जन्म-मरणरूपी संसार को प्राप्त होते हैं और ज्ञानी-लोग जिस आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से मुक्त हो जाते हैं, उस आत्मा का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर—" अनेजत् " वह आत्मा चलनादि क्रियाओं से रहित है, सारे जगत् में एक ही है, नाना नहीं है, शरीरों के भेद से भी भेदरहित है, मन से भी वेगवाला है ?

प्रश्न—आपने आत्मा को "अनेजत्" अर्थात् क्रिया से रहित पूर्व कहा, अब आप उसको मन से भी अति वेगवाला अर्थात् क्रिया-वाला कहते हैं, एक में ही दो विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—विरोध नहीं आता है, क्योंकि जो आत्मा निरुपाधिक है अर्थात् अन्तःकरणादि उपाधियों से रहित है वह व्यापक है और वह क्रिया से रहित ध्रुव है और अन्तःकरणादि उपाधियों में प्रतिबिंबित जो विशेष चेतन है वह जीवात्मा है। उसमें अन्तःकरण के साथ संबंध होने से क्रिया प्रतीत होती है और इसलिए उपाधि के संबन्ध से क्रियावाला कहा जाता है । मन सङ्कल्प करके देशांतर, लोकांतर को क्षणमात्र में प्राप्त होता है और आत्मा व्यापक होने से वहाँ पर प्रथम ही प्राप्त है, इसी कारण से मंत्र ने उसको मन से भी अधिक वेगवाला कहा है ।

प्रश्न—मन करके रूपादिकों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, परन्तु

चक्षुरादिकों करके उनका प्रत्यक्ष होता है वैसे ही क्या आत्मा का प्रत्यक्ष भी चक्षुरादिकों करके न होना चाहिए ?

उत्तर—"देवाः" चक्षुरादि इन्द्रिय करके आत्मा प्राप्त नहीं होसक्ता है, जैसे मन में स्थित मन का जो परिमाण है, उसका मन करके ग्रहण नहीं होता है, वैसे ही मन में अनुगत आत्मा का भी मन करके ग्रहण नहीं होता है और जैसे चक्षु इन्द्रिय के गोलक में स्थित जो अंजन है, उसका प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय करके नहीं होता है, वैसे चक्षु में अनुगत आत्मा का भी चक्षु करके प्रत्यक्ष नहीं होता है।

प्रश्न—जिस आत्मा का प्रत्यक्ष मन और चक्षु करके नहीं होता है, वह असत् होगा ?

उत्तर—वह असत्य नहीं, किन्तु सद्रूप ही है। क्योंकि वह आत्मा व्यापक होने के कारण मन आदिकों से प्रथम ही प्राप्त है और जहाँ मन इन्द्रियादिक दौड़कर प्राप्त होते हैं वहाँ वह उनसे प्रथम ही प्राप्त रहता है तथा चेतन आत्मा में मातरिश्वा जो समष्टि प्राणों का अभिमानी हिरण्यगर्भ है, वह चेतन द्वारा ब्रह्मा होकर जगत् और कल्पादिकों को करता है एवं उनको और संपूर्ण जीवों को विभाग करके स्थापन करता है। तात्पर्य यह है कि संपूर्ण कार्य-करण-संघात का व्यापार बिना अधिष्ठान चेतन के नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

नोट—'आप्नुवन्' भूतकाल है, परन्तु अर्थ वर्त्तमानकाल का देता है।

मूलम् ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

तत्, एजति, तत्, न, एजति, तत्, दूरे, तद्वत्, अन्तिके, तत्, अन्तः, अस्य, सर्वस्य, तत्, उ, सर्वस्य, अस्य, बाह्यतः ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
तत्	सोई आत्मा	+ च	और
एजति	चलता है उपाधि करके	तत्	सोई आत्मा
तत्	सोई आत्मा उपाधि बिना	अस्य	इस
न	नहीं	सर्वस्य	संपूर्ण जगत् के
एजति	चलता है	अन्तः	अभ्यन्तर में स्थित है
तत्	सोई आत्मा	उ	और
दूरे	अविद्वानों से दूर है	तत्	सोई आत्मा
तद्वत्	वैसे ही	अस्य	इस
अन्तिके	विद्वानों के समीप है	सर्वस्य	सब जगत् के
		बाह्यतः	बाहर है ।

भावार्थ ।

तदेजतीति । मंत्रों को आलस्य नहीं है यानी एक ही वस्तु को बार बार बाधार्थ कहा करते हैं, इसी हेतु से कहे हुए अर्थ को फिर मंत्र कहते हैं । ईश्वररूप आत्मा, वायु आदि उपाधि करके चलता प्रतीत होता है और ईश्वररूप आत्मा स्वभाव करके चलता नहीं है। क्योंकि वह अपने स्वभाव से क्रिया-रहित है । वही ईश्वररूप आत्मतत्त्व अज्ञानियों को दूर प्रतीत होता है अर्थात् अज्ञान के कारण करोड़ों वरसों तक भी उनको प्राप्त नहीं होता है । और वही ईश्वररूप आत्मा ज्ञानवानों को अतिसमीप है; क्योंकि वह उनका अपना आप आत्मा है । वही ईश्वरात्मा संपूर्ण चराचर जगत् के अन्तर और बाहर आकाश की तरह व्यापक है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

यः, तु, सर्वाणि, भूतानि, आत्मनि, एव, अनुपश्यति, सर्वभूतेषु, च, आत्मानम्, ततः, न, विचिकित्सति ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
तु	और	+ अनुपश्यति	देखता है
यः	जो ज्ञानी पुरुष	+ सः	वह
सर्वाणि	सब	ततः	इस प्रकार के दर्शन से
भूतानि	भूतों को	न	नहीं
आत्मनि	आत्मा में (अपने में)	विचिकित्सति	सन्देह को प्राप्त होता है अर्थात् संशय-विपर्यय से रहित हुआ जीवन्मुक्त होता है ।
एव	निश्चय करके		
अनुपश्यति	देखता है		
च	और		
सर्वभूतेषु	सम्पूर्ण भूतों में		
आत्मानम्	आत्मा को (अपने को)		

भावार्थ ।

यस्तु सर्वाणीति । अब आत्मज्ञान के फल को कहते हैं । जो विद्वान् ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त संपूर्ण भूतों को अर्थात् संपूर्ण प्राणियों को अपना आत्मा जानता है और संपूर्ण भूतों में अपने ही आत्मा को देखता है अर्थात् मैं ही संपूर्ण भूतों में स्थित हूँ, वह किसी प्राणी की निंदा नहीं करता है । निंदा वह करता है जो अपने से भिन्न दूसरे को देखता है, अतः विद्वान् अपने से भिन्न किसी को भी नहीं देखता है, किंतु सबको अपना आत्मारूप करके ही देखता है और जब अपने आत्मा की निंदा अज्ञानी पुरुष भी नहीं करता है, तब ज्ञानवान् कैसे करेगा ॥ ६ ॥

मूलम् ।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

यस्मिन्, सर्वाणि, भूतानि, आत्मा, एव, अभूत्, विजानतः, तत्र, कः, मोहः, कः, शोकः, एकत्वम्, अनुपश्यतः ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
यस्मिन्	जिस काल में	एकत्वम्	एकत्व को अर्थात् अभेद
विजानतः	ज्ञानवान् को	अनुपश्यतः	देखनेवाले पुरुष को
सर्वाणि	संपूर्ण	कः	कहाँ
भूतानि	भूत	मोहः	मोह है
आत्मा	आत्मा	+ च	और
एव	ही	कः	कहाँ
अभूत्	सिद्ध होता है अर्थात् प्रतीत होता है	शोकः	शोक है, किन्तु मोह-शोक-रहित होता है ।
तत्र	उस काल में		

भावार्थ ।

यस्मिन् सर्वाणीति । जिस पूर्वोक्त अभेद ज्ञानी विद्वान् को प्राणीमात्र अपना आत्मा ही प्रतीत होने लगता है अर्थात् जब उसको ऐसा अनुभव होता है कि संपूर्ण प्राणियों का आत्मा मैं ही हूँ उस विद्वान् को न मोह है, न शोक है; क्योंकि उसकी मूलाविद्या आत्म-विद्या करके नाश को प्राप्त होजाती है और अविद्या के नाश होने से अविद्या के कार्य जो शोक, मोहादिक हैं वे भी सब उसके साथ ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि कारण के नाश से कार्य का भी नाश ही हो जाता है ॥ ७ ॥

नोट—'अभूत्' भूतकाल है, परंतु अर्थ वर्तमान का देता है ।

मूलम् ।

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपाप-

विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

सः, पर्य्यगात्, शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम, कविः, मनीषी, परिभूः स्वयम्भूः, याथातथ्यतः, अर्थान्, व्यदधात्, शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।
सः	वह पूर्वोक्त आत्मा
पर्य्यगात्	व्यापक है
शुक्रम्	प्रकाशक है
अकायम्	लिंग शरीर रहित है
अव्रणम्	छिद्र रहित है
अस्नाविरम्	नाड़ी रहित है
शुद्धम्	निर्मल है
अपापविद्धम्	पापरहित है
कविः	त्रिकालदर्शी है
मनीषी	सर्वज्ञ है
परिभूः	सबके ऊपर है
स्वयम्भूः	स्वयं विद्यमान है
च	और
शाश्वतीभ्यः	अनंतकालस्थायी है
+ सः एव	वही
समाभ्यः	ब्रह्म आदि प्रजापतियों के लिए
याथातथ्यतः	यथा उचित
अर्थान्	अग्निहोत्रादि कर्मों को
व्यदधात्	विधान किया ।

भावार्थ ।

स पर्य्यगाच्छुक्रमिति । प्रश्न—पूर्व जो कहा है कि यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का ही स्वरूप है । इस प्रकार जो जानता है उसके आवरण और विक्षेप दूर हो जाते हैं, सो वार्ता नहीं बनती है; क्योंकि **"ईश्वरः शरीरवान् आत्मत्वात् जीववत्"** ईश्वर भी शरीरवाला है, आत्मत्व के कारण जीव की तरह है । जैसे जीव में आत्मत्व है और शरीरवाला है वैसे ईश्वर में भी आत्मत्व है, इस लिए वह भी शरीरवाला है ?

उत्तर—जिस आत्मत्वहेतु से तुम ईश्वर को शरीरवाला सिद्ध

करते हो वही तुम्हारा हेतु सत्प्रतिपक्ष है। जिस हेतु के साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु विद्यमान हो वह हेतु 'सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है, सो तुम्हारे साध्य के अभाव का साधक दूसरा हेतु विद्यमान है, इसलिए यह तुम्हारा हेतु सत्प्रतिपक्ष अर्थात् व्यभिचारी है । **"ईश्वरः शरीराऽभाववान्, व्यापकत्वात्, आकाशवत्"** जैसे आकाश व्यापक है और उसमें शरीर का अभाव है वैसे ही ईश्वर भी व्यापक है और उसमें शरीर का अभाव है । यह व्यापकत्व हेतु ही शरीर के अभाव का साधक है, इसलिए तुम्हारा हेतु व्यभिचारी है और व्यभिचारी होने से अपने साध्य के सिद्ध करने में असमर्थ है और मंत्र भी ईश्वर के शरीर के अभाव को कह करके ईश्वर के स्वरूप को दिखाता है **"स पर्य्यगात्"** पूर्वोक्त रीति से ईश्वरात्मा सर्व ओर से प्राप्त है अर्थात् आकाशवत् व्यापक है । अब आगे उसी ईश्वरात्मा के विशेषणों को मंत्र कहता है । **"शुक्रम्"** वह शुद्ध है अर्थात् प्रकाशमान है । **"अकायम्"** वह लिंग शरीर से रहित है । **"अव्रणम्"** वह छिद्र से रहित है। **"अस्नाविरम्"** वह नाड़ी रहित है। **"अव्रणम्"** और **"अस्नाविरम्"** इन दो विशेषणों करके मन्त्र ने ईश्वर के स्थूल और लिंगशरीर निषेध किया है, अर्थात् ईश्वर का न तो लिंगशरीर है और न स्थूल शरीर है **"अपापविद्धम्"** वह धर्माऽधर्मादि पापों से भी रहित है, अर्थात् अविद्या मल से रहित है ऐसा कहने से कारण-शरीर का मन्त्र ने निषेध किया है। **"कविः"** यह सबका द्रष्टा है **"मनीषी"** मनादिकों का प्रेरक है अर्थात् जाननेवाला है, सर्वज्ञ है **"परिभूः"** नानारूपों करके सर्व ओर से प्रकाशमान हो रहा है या सब के ऊपर है अर्थात् मालिक है **"स्वयम्भूः"** यह स्वतः सिद्ध है अर्थात् उसका कारण कोई नहीं है और आप सबका कारण है **"शाश्वतीभ्यः"**

निरन्तर है **"समाभ्यः"** संवत्सर नाम प्रजापतियों के लिए **"याथा-तथ्यतः"** यथा उचित साध्य-साधनरूप करके अर्थात् चेतन अचेतन-रूप करके "व्यदधात्" नाना प्रकार के पदार्थों की कल्पना को किया । इस मन्त्र में यथार्थरूप से ईश्वर के स्वरूप का निरूपण किया है ॥ ८ ॥

मूलम् ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः ॥ ९ ॥

पदच्छेदः ।

अन्धम्, तमः, प्रविशन्ति, ये, असम्भूतिम्, उपासते, ततः, भूयः, इव, ते, तमः, ये, उ, सम्भूत्याम्, रताः ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।
ये	जो कोई
असम्भूतिम्	प्रकृति को
उपासते	उपासना करते हैं
+ ते	वे
अन्धम्	अदर्शनात्मक
तमः	अज्ञान में
प्रविशन्ति	प्रवेश करते हैं अर्थात् गिरते हैं
उ	और
ये	जो कोई
सम्भूत्याम्	कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ में
रताः	रत हैं
ते	वे
ततः	उससे भी
भूयः इव	अधिकतर
तमः	अन्धकार अर्थात् अज्ञान में
+ प्रविशन्ति	प्रवेश करते हैं ।

भावार्थ ।

ज्ञान के प्रकरण को समाप्त करके अब इस बात को दिखलाते हैं कि जो पुरुष पूर्वोक्त आत्मतत्त्व को नहीं जानता है और संन्यास में भी जिसका अधिकार नहीं है, किंतु संसार से अत्यन्त प्रीति दिखलानेवाला है, उसके प्रति जो कामुक कर्म करना और भिन्न भाव से देवता की उपासना करना कहा है उन दोनों की मंत्र निंदा

करता है "अंधमिति" जो धन के अभिलाषी अज्ञानी अविद्या की अर्थात् ज्योतिष्टोमादिरूप कर्म की उपासना को करते हैं वे अहं-ममाभिमानरूपी संसार को प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न—यदि कर्म्मों की उपासना करने से संसार की प्राप्ति होती है तब फिर कर्मों का त्याग करके देवताओं की उपासना करनी चाहिए अथवा "**अहं ब्रह्मास्मि**" ऐसी उपासना करनी चाहिए ।

उत्तर—जो कर्मों के त्यागी अज्ञानी कर्मों को त्याग करके देवताओं की उपासना में प्रीतिवाले हैं और जो आत्मा के साक्षात्कार विना मुख से "**अहं ब्रह्मास्मि**" ऐसा कहते हैं, वे दोनों पूर्वोक्त अहंममाभिमानरूप संसार से भी अधिकतर अहंममाभिमानरूप तम को प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

मूलम् ।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

अन्यत्, एव, आहुः, सम्भवात्, अन्यत्, आहुः, असम्भवात्, इति, शुश्रुम, धीराणाम्, ये, नः, तत्, विचचक्षिरे ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।
सम्भवात्	सम्भूति करके
अन्यत् एव	और ही
+ फलम्	फल
आहुः	कहते हैं
च	और
असम्भवात्	असम्भूति करके
अन्यत्	और ही
+ फलम्	फल
आहुः	कहते हैं
ये	जो कोई
नः	हमारे लिए
तत्	उस सम्भूति और असम्भूति के फल को
विचचक्षिरे	कहते भये
+ तेषाम्	तिन
धीराणाम्	धीरपुरुषों के
+ वचनम्	वचन को
इति	इसप्रकार
शुश्रुम	हम लोगों ने श्रवण किया है ।

भावार्थ ।

अन्यदेवाहुरिति । प्रश्न—कर्म और उपासना ये दोनों पुरुषों को करनी उचित हैं सो दोनों की आप निंदा करते हैं, तब फिर दोनों का कुछ भी फल नहीं होगा ।

उत्तर—दोनों का फल भिन्न-भिन्न है । "**अन्यदेव**" देवता की उपासना का फल देवलोक की प्राप्ति है और कामुक कर्मों के करने का फल पितृलोक की प्राप्ति है तथा निष्काम कर्मों के करने का फल चित्त की शुद्धिद्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति है । तीनों फल एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं अर्थात् पितृलोक से श्रेष्ठ देवलोक है और देवलोक से श्रेष्ठ आत्मज्ञान है, क्योंकि इसके द्वारा मुक्ति होती है ॥ १० ॥

मूलम् ।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳसह विनाशेन मृत्युन्तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

संभूतिम्, च, विनाशम्, च, यः, तत्, वेद, उभयम्, सह, विनाशेन, मृत्युम्, तीर्त्वा, सम्भूत्या, अमृतम्, अश्नुते ॥

अन्वयः । पदार्थ ।	अन्वयः । पदार्थ ।
यः=जो कोई	सः=वह
तत्=उस	विनाशेन=असंभूति द्वारा
उभयम्=दोनों	मृत्युम्=मृत्यु को
सम्भूतिम्=सम्भूति	तीर्त्वा=तर करके
च=और	असंभूत्या=सम्भूति द्वारा
विनाशम्=असम्भूति को	अमृतम्=अमरभाव को
सह=एक ही	अश्नुते=प्राप्त होता है ।
वेद=जानता है	

भावार्थ ।

संभूतिंचेति । पूर्वोक्त दोनों उपासना के अब फल को मन्त्र

दिखाता है। "**सम्भूतिंच**" वास्तव में यह पद असम्भूति है, इसमें अकार का लोप होगया है। असम्भूति नाम अव्याकृत प्रकृति का है, वही संपूर्ण जगत् का मूल कारण है और विनाश नाम नाश को प्राप्त होनेवाले हिरण्यगर्भ का है; वह प्रकृति का कार्य है। जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकृति की और हिरण्यगर्भ की उपासना एक साथ ही करना उचित समझता है और करता है, तो वह उपासक हिरण्यगर्भ की उपासना से अनैश्वर्यरूप दोषों से तरता है और प्रकृति की उपासना से प्रकृति में लयरूप अमरभाव को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

नोट—असंभूति प्रकृति को कहते हैं उसका उपासक प्रकृति में लय होता है, इसलिए वह जन्म-मरणभाव से अमर समझा गया है। सम्भूति हिरण्यगर्भ को कहते हैं, उसका उपासक अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त होता है, इसलिये वह भी जन्म-मरणभाव से रहित समझा गया है।

मूलम् ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमो यऽउ विद्यायाᳬरताः ॥ १२ ॥

पदच्छेदः ।

अन्धम्, तमः, प्रविशन्ति, ये, अविद्याम्, उपासते, ततः, भूयः, इव, ते, तमः, ये, उ, विद्यायाम्, रताः ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
ये=	जो कोई अविवेकी पुरुष	उपासते=	स्वर्गादि फल के निमित्त उपासना करते हैं
अविद्याम्=	अविद्या के आश्रय अग्नि होत्र आदि सकाम कर्मों को	+ ते=	वे
		अन्धम्=	अदर्शनात्मक

अन्वयः	पदार्थः	अन्वयः	पदार्थः
तमः	अज्ञानावृत शरीर में	रताः	तत्पर हैं
प्रविशन्ति	प्रवेश करते हैं	ते	वे
उ	और	ततः	उस अंधतम से भी
ये	जो कोई	भूयः इव	अत्यंत
विद्यायाम्	सकामकर्म त्याग करके केवल देवताओं के भेद्भाव उपासना में	तमः	अन्धकार को
		प्रविशन्ति	प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ ।

अन्धंतमःप्रविशंतीति । इस बारहवें मन्त्र में व्याकृत अव्याकृत उपासना की निंदा करते हैं । "**अंधमिति**" अव्याकृत नामक जो जगत् की कारणीभूत प्रकृति है उसकी अज्ञ पुरुष उपासना करते हैं और कहते हैं कि वह प्रकृति हमहीं हैं । वे अंधतम को अर्थात् अहंममाभिमानरूप अज्ञान को ही प्राप्त होते हैं और जो पुरुष संभूति की अर्थात् कार्यरूप हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं वे पूर्वोक्त तम से भी अधिक अहंममाभिमानरूप संसार को प्राप्त होते हैं । इस मंत्र में जो असंभूति पद है, वह कारणरूप प्रकृति का वाचक है और संभूति पद जो है वह कार्यरूप हिरण्यगर्भ का वाचक है ॥ १२ ॥

मूलम् ।

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

पदच्छेदः ।

अन्यत्, एव, आहुः, विद्यायाः, अन्यत्, आहुः, अविद्यायाः, इति, शुश्रुम, धीराणाम्, ये, नः, तत्, विचचक्षिरे ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
विद्यायाः	विद्या का	+ फलम्	फल
अन्यत् एव	और ही	आहुः	कहते हैं

अविद्यायाः=अविद्या का	+ वचनम्=वचन को
अन्यत् एव=और ही	शुश्रुम=हमने सुना है
+ फलम्=फल	ये=जिन्होंने
आहुः=कहते हैं	नः=हमारे लिए
इति=ऐसा	तत्=उसको अर्थात् कर्म और ज्ञान को
तेषाम्=उन	विचचक्षिरे=उपदेश किया है ।
धीराणाम्=बुद्धिमान् पुरुषों के	

भावार्थ ।

अन्यदेवाहुरिति । अब इस मन्त्र में संभूति असंभूति की उपासना से जो फल होता है उस फल के भेद को कहते हैं । "**संभवात्**" हिरण्यगर्भरूपी कार्य्य की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य्य की प्राप्तिरूपी फल उपासक को मिलता है और "**असम्भवात्**" व्याकृत की उपासना से प्रकृति में लयरूपी फल मिलता है । वेद के वेत्ता धीर पुरुष इसप्रकार दोनों के फलों को भिन्न-भिन्न कथन करते हैं, ऐसा हमने वेद के वेत्ता जो आचार्य्य और विद्वान् हैं उनसे सुना है । मूल में जो "**सम्भव**" पद है वह कार्यरूपी हिरण्यगर्भ का वाचक है और जो "**असम्भव**" पद है वह कारणरूपी प्रकृति का वाचक है ॥ १३ ॥

मूलम् ।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳसह । अविद्यया मृत्युन्तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

पदच्छेदः ।

विद्याम्, च, अविद्याम्, च, यः, तत्, वेद, उभयम्, सह, अविद्यया, मृत्युम्, तीर्त्वा, विद्यया, अमृतम्, अश्नुते ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
च=और		च=और	
यः=जो कोई		अविद्याम्=अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि निष्काम कर्म	
विद्याम्=विद्या अर्थात् देवताओं की अभेद उपासना		तत्=उन	

उभयम्=दोनों को
सह=एक ही पुरुष करके अनुष्ठान करने योग्य
वेद=जानता है
+ सः=वह पुरुष
अविद्यया=अविद्या द्वारा अर्थात् कर्मों द्वारा
मृत्युम्=मृत्यु को
तीर्त्वा=तर करके
विद्यया=विद्या द्वारा अर्थात् अहंग्रह उपासना द्वारा
अमृतम्=अमरभाव को
अश्नुते=प्राप्त होता है ।

भावार्थ ।

विद्यांचाविद्यां चेति । पहले मन्त्र में कर्म और देवता की उपासना का पृथक् पृथक् फल कहा है, अब इस मन्त्र में दोनों के समुच्चय के फल को कहते हैं । '**विद्यां चाविद्यां चेति**' जो पुरुष देवता की उपासना और कर्मों को एक साथ ही करता है वह कर्मों करके मृत्यु को उत्क्रमण करता है और देवता की उपासना करके अमरभाव उपास्यरूप देवता को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

मूलम् ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत् त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पदच्छेदः ।

हिरण्मयेन, पात्रेण, सत्यस्य, अपिहितम्, मुखम्, तत्, त्वम्, पूषन्, अपावृणु, सत्यधर्म्माय, दृष्टये ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।
पूषन्	हे पोषणकर्त्ता सूर्य
सत्यस्य	सत्य परमात्मा के
तत्	उस
मुखम्	द्वार को
+ यत्	जो
हिरण्मयेन	तेजोमय
पात्रेण	पात्र करके
अपिहितम्	आच्छादित है
त्वम्	तू
सत्यधर्माय	मुझ सत्यधर्म्मा के
दृष्टये	दर्शन के अर्थ
अपावृणु	खोल दे ।

भावार्थ ।

हिरण्मयेनेति । पहले मन्त्र में "**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा**

विद्ययाऽमृतमश्नुते " उस समुच्चय उपासना करके सूर्यमण्डल में स्थित जो पुरुष है उसी की प्राप्ति उस उपासक को होती है। जिस काल में उपासक पुरुष अपने शरीर को त्याग करके इस लोक से सूर्य्यमण्डल को जाता है तब वहाँ सूर्य्यमण्डलस्थ पुरुष से प्रार्थना करता है। " **हिरण्मयेनेति** " हे पूषन्! हे जगत् के पालन करनेवाले! आप कृपा करके सत्य परमात्मा के द्वार को, जो आपके तेजोमय पात्र से आच्छादित है, मुझ सत्य धर्मावलम्बी के दर्शनार्थ खोल दीजिए, मैं आपका सेवक हूँ। दूसरा अर्थ यह है कि हे जगत् के पालन करनेवाले! मेरे प्राप्ति का द्वार आपका मुख है, वह स्वर्ण की तरह प्रकाशमान पात्र करके आच्छादित है, सो उस तेज को आप हटा लेओ तो मैं आपका दर्शन करूँ। मैंने सत्यधर्म को ग्रहण करके विधिपूर्वक आपकी उपासना की है, उसका फल अब मुझ सत्यधर्मावलम्बी को प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार उपासक सूर्य्यमण्डल में जाकर सूर्य्यमण्डलस्थ पुरुष के आगे प्रार्थना करता है ॥ १५ ॥

मूलम् ।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ॥ तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पदच्छेदः ।

पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य्य, प्राजापत्य, व्यूह, रश्मीन्, समूह, तेजः, यत्, ते, रूपम्, कल्याणतमम्, तत्, ते, पश्यामि, यः, असौ, असौ, पुरुषः, सः, अहम्, अस्मि ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।	अन्वयः ।	पदार्थ ।
पूषन्=	हे पोषणकर्त्ता !	यम=	हे सर्व के संयमनकर्त्ता !
एकर्षे=	हे एक चलनेवाले !		

सूर्य=हे सर्व रस के स्वीकारकर्त्ता सूर्य !
प्राजापत्य=हे प्रजापति के पुत्र !
+ स्वान्=अपने
रश्मीन्=किरणों को
व्यूह=अलगकर
+ च=और
तेजः=तेज को
समूह=एकत्रकर
+ तु=ताकि
यत्=जो
ते=तुम्हारा
कल्याणतमम्=कल्याणतम
रूपम्=रूप है
तत्=उसको
ते=तुम्हारे
+ प्रसादेन=प्रसाद से
पश्यामि=देखूँ मैं
यः असौ=जो यह
+ त्वयि=तुम्हारे में
+ परिपूर्णः=परिपूर्ण
पुरुषः=पुरुष है
सः=सोई
असौ=यह
अहम्=मैं
अस्मि=हूँ ।

भावार्थ ।

पूषन्नेति । इस मन्त्र में भी बहुत प्रकार के विशेषणों करके उपासक सूर्य्यमण्डलस्थ पुरुष को संबोधन करता हुआ प्रार्थना करता है । "**पूषन्नेति**" हे संपूर्ण जीवों के पोषण करनेवाले ! हे एकाकी गमन करनेवाले ! हे संपूर्ण जीवों के नियामक ! हे संपूर्ण लोकों को उनके कर्मों में प्रवृत्त करनेवाले ! हे प्रजापति के पुत्र ! आप अपने तेजोमय किरणों को समेट लो ताकि मैं आपके अतिशय कल्याणरूप को देखूँ, मेरी और कोई याचना नहीं है । आप विषे जो पूर्ण पुरुष स्थित है, वह मेरा ही स्वरूप है, अर्थात् मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

नोट—सूर्य्य भगवान् का उपासक सूर्य्य भगवान् की प्रार्थना मरते समय ऊपर कहे हुए प्रकार से करता है ।

मूलम् ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ॥ ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १७ ॥

पदच्छेदः ।

वायुः, अनिलम्, अमृतम्, अथ, इदम्, भस्मान्तम्, शरीरम्,

ओम्, क्रतो, स्मर, कृतम्, स्मर, क्रतो, स्मर, कृतम्, स्मर ॥

अन्वयः ।	पदार्थ ।
अथ=	इस काल में अर्थात् देहावसान समय में
वायुः=	प्राणवायु
+ मम=	मेरा
अनिलम्=	सूत्र आत्मा समष्टि प्राण का
+ च=	और
+ मम=	मेरा
अमृतम्=	लिंग शरीर
+ स्वकारणम्=	अपने कारण तत्त्व को
+ प्राप्येत=	प्राप्त हो
+ च=	और
इदम्=	यह
शरीरम्=	स्थूल शरीर
भस्मान्तम्=	अन्त भस्मभाव को
+ भूयात्=	प्राप्त हो
+ च=	और
क्रतो=	हे मन !
ओम्=	ओंकार को
स्मर=	स्मरण कर
+ च=	और
कृतम्=	किये हुए शुभ कर्मों को
स्मर=	स्मरण कर
क्रतो=	हे मन !
कृतम्=	किये हुए शुभ कर्मों को
स्मर=	स्मरण कर
स्मर=	स्मरण कर ॥

भावार्थ ।

मरणकाल में उपासक पुरुष को सूत्रात्मा प्राण का इसप्रकार अनुसंधान अर्थात् चिंतन करना चाहिए । "**वायुरिति**" मेरे जो प्राण हैं सो अमरभावरूप वायु देवता में लीन हों, मेरा जो यह स्थूल शरीर है सो अग्नि में हवन किये हुए भाव को प्राप्त हो । हे मन ! ओंकार के वाच्य ईश्वर को स्मरण कर, संपूर्ण शुभकर्मों को स्मरण कर हे मन ! सँभल, सावधान हो, परमात्मा में चित्त लगा । इसी काल के वास्ते तू कर्म-उपासना और ज्ञान में प्रवेश हुआ था ॥ १७ ॥

नोट—सूत्रात्मा प्राण का उपासक मरते समय ऊपर कहे हुए प्रकार ओंकार को स्मरण करता है ।

मूलम् ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव

वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

पदच्छेदः ।

अग्ने, नय, सुपथा, राये, अस्मान्, विश्वानि, देव, वयुनानि, विद्वान्, युयोधि, अस्मत्, जुहुराणम्, एनः, भूयिष्ठाम्, ते, नमउक्तिम्, विधेम ॥

अन्वयः । पदार्थ ।	अन्वयः । पदार्थ ।
देव=हे प्रकाशात्मक देव!	+ च=और
अग्ने=हे अग्ने !	अस्मत्=हमारे
विश्वानि=सर्व	जुहुराणम्=कुटिल वचनात्मक
वयुनानि=कर्मों को	एनः=पाप को
विद्वान्=जाननेवाला तू	युयोधि=नाशकर
अस्मान्=हम कर्मकर्त्ताओं को	ते=तेरे अर्थ
राये=कर्मफल के अर्थ	भूयिष्ठाम्=बहुत से
सुपथा=शुभमार्ग से	नमउक्तिम्=नमस्कार के वचन
नय=ले चल	विधेम=हम कहते हैं ॥

भावार्थ ।

अग्ने नयेति । अग्नि देवता का उपासक मरण-काल में सुन्दरमार्ग से चलने के लिए इस प्रकार प्रार्थना करता है । " **अग्ने इति** " हे अग्ने ! कर्मउपासना के समुच्चय का अनुष्ठान करनेवाले हमको शोभनमार्ग से अर्थात् उत्तरायणमार्ग से उपास्यदेव के पास, कर्म और उपासना के फल के भोगने के लिए प्राप्त करो । हे देव ! आप हमारे सम्पूर्ण उपासना और कर्मों के जानने वाले हो, आप हमारे कुटिल वचनरूपी पाप को नाश करो, आपके प्रति बारं बार मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥

नोट—अग्नि देवता का उपासक मरण-काल में अपने मन में अग्नि देवता की प्रार्थना करता है ॥ १८ ॥

इति वाजसनेयसंहितायामीशावास्योपनिषद् समाप्ता ।

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ।